2 राष्ट्र का स्वरूप



वासुदेवशरण अग्रवाल

(जन्म : सन् 1904 ई.; निधन : सन् 1966 ई.)

वासुदेवशरण अग्रवाल ने सन्म लखनऊ विश्वविद्यालय से एम.ए. किया । तदन्तर वे सन् 1940 ई. तक मथुरा के पुरातत्व संग्रहालय के अध्यक्ष पद पर रहे । बाद में उन्होंने पी.एच.डी. तथा डी.लिट्. की उपाधियाँ प्राप्त कीं । उन्होंने भारतीय पुरातत्व विभाग के अध्यक्ष पद का भी सफलतापूर्वक निर्वाह किया । सन् 1951 इ. में वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कॉलेज ऑफ इंडोलॉजी में प्रोफेसर नियुक्त हुए । वे भारतीय मुद्रा परिषद, भारतीय संग्रहालय परिषद् तथा ऑल इंडिया रयंटल कांग्रेक के सभापति रह चुके हैं । भारतीय संस्कृति और सभ्यता के अन्वेषक तथा इतिहास और पुरातत्व के गहन विद्वान के रूप में वे देश भर में सम्मान पाते रहे ।

उनकी लिखी हुई और प्रमुख सम्पादित पुस्तकें इस प्रकार हैं : 'उरुज्योति', 'कला और संस्कृति', 'कल्पवृक्ष', 'कादम्बरी', भारत की मौलिक एकता ।'

'राष्ट्र का स्वरूप' एक चिन्तनात्मक निबन्ध है । इसमें लेखक ने देश को राष्ट्र बनानेवाले तत्त्वों की चर्चा की है । भूमि, भूमि पर बसने वाले जन और जन की संस्कृति - ये ही तीन तत्त्व हैं जो एक देश को राष्ट्र बनाते हैं । इन तीनों का राष्ट्रीय जीवन में महत्त्व प्रतिपादित करके लेखक राष्ट्र की जनता को यह अनुरोध करता है कि वह इनका मूल्य पहचानें तथा इनका गौरव करें ।

भूमि, भूमि पर बसने वाला जन और जन की संस्कृति, इन तीनों के सम्मिलन से राष्ट्र का स्वरूप बनता है ।

भूमि का निर्माण देवों ने किया है, वह अनन्त काल से है । उसके भौतिक रूप, सौन्दर्य और समृद्धि के प्रति सचेत होना हमारा आवश्यक कर्तव्य है । भूमि के पार्थिव स्वरूप के प्रति हम जितने अधिक जाग्रत होंगे उतनी ही हमारी राष्ट्रीयता बलवती हो सकेगी । यह पृथ्वी सच्चे अर्थों में समस्त रास्ट्रीय विचारधाराओं की जननी है । जो राष्ट्रीयता पृथ्वी के साथ नहीं जुड़ी वह निर्मूल होती है । राष्ट्रीयता की जड़ें पृथ्वी में जितनी गहरी होंगी उतना ही राष्ट्रीय-भावों का अंकुर पल्लवित होगा । इसलिए पृथ्वी के भौतिक स्वरूप की आद्योपांत जानकारी प्राप्त करना, उसकी सुन्दरता, उपयोगिता और महिमा को पहचाना आवश्यक धर्म है । उदाहरण के लिए, पृथ्वी की उपजाऊ शक्ति को बढ़ाने वाले मेघ जो प्रति वर्ष समय पर आकर अपने अमृत जल से इसे सींचते हैं, हमारे अध्ययन की परिधि के अन्तर्गत आने चाहिए । उन मेघजलों से परिवर्धित प्रत्येक तृणलता और वनस्पति का सूक्ष्म परिचय प्राप्त करना भी हमारा कर्तव्य है ।

इस प्रकार जब चारोंओर से हमारे ज्ञान के कपाट खुलेंगे, तब सैंकड़ों वर्षों से शून्य और अन्धकार से भरे हुए जीवन के क्षेत्रों में नया उजाला दिखाई देगा ।

धरतीमाता की कोख में जो अमूल्य निधियाँ भरी हैं, जिनके कारण वह वसुन्धरा कहलाती है, उनसे कौन परिचित न होना चाहेगा ? लाखों-करोडों वर्षों से अनेक प्रकार की धातुओं को पृथ्वी के गर्भ में पोषण मिला है । दिन-रात बहने वाली नदियों ने पहाड़ों को पीस-पीस कर अगणित प्रकार की मिट्टियों से पृथ्वी की देह को सजाया है । हमारे भावी आर्थिक अभ्युदय के लिये इन सब की जाँच-पड़ताल अत्यन्त आवश्यक है । पृथ्वी की गोद में जन्म लेनेवाले खड़े पत्थर कुशल शिल्पियों से सँवारे जाने पर अत्यन्त सौंन्दर्य का प्रतीक बन जाते हैं । नाना भांति के अनगढ़ नग विंध्य की नदियों के प्रवाह में सूर्य की धूप से चिलकते रहते हैं, उन सिलवटों को जब चतुर कारीगर पहलदार कटाव पर लादे हैं तब उनके प्रत्येक घाट से नई शोभा और सुन्दरता फूट पड़ती है, वे अनमोल हो जाते हैं । पृथ्वी और आकाश के अन्तराल में जो कुछ सामग्री भरी है, पृथ्वी के चारों ओर फैले हुए गम्भीर सागर में जो जलचर एवं रत्नों की राशियाँ हैं, उन सबके प्रति चेतना और स्वागत के नए भाव राष्ट्र में फैलने चाहिए । राष्ट्र के नवयुवकों के हृदय में उन सबके प्रति जिज्ञासा की नई किरणें जब तक नहीं फूटतीं तब तक हम सोए हुए के समान हैं ।

विज्ञान और उद्योग दोनों को मिलाकर राष्ट्र के भौतिक स्वरूप का एक नया ठाट खड़ा करना है । यह कार्य प्रसन्नता, उत्साह और अथक परिश्रम के द्वारा नित्य आगे बढ़ाना चाहिए । हमारा यह ध्येय हो कि राष्ट्र में जितने हाथ हैं उनमें से कोई भी इस कार्य में भाग लिए बिना न रहे ।

मातृभूमि पर निवास करनेवाले मनुष्य राष्ट्र के दूसरे अंग हैं । पृथ्वी हो और मनुष्य न हों, तो राष्ट्र को कल्पना असम्भव है । पृथ्वी और जन दोनों के सम्मिलन से ही राष्ट्र का स्वरूप सम्पादित होता है । जन के कारण ही पृथ्वी मातृभूमि की संज्ञा प्राप्त करती है । पृथ्वी माता है और जन सच्चे अर्थों में पृथ्वी का पुत्र है - माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः । 'भूमि माता है, मैं उसका पुत्र हूँ' जन के हृदय में इस सूत्र का अनुभव ही राष्ट्रीयता की कुंजी है । इसी भावना से राष्ट्र निर्माण के अंकुर उत्पन्न होते हैं ।

यह भाव सशक्त रूप में जागता है तब राष्ट्र-निर्माण के स्वर वायुमण्डल में भरने लगते हैं । इस भाव के द्वारा ही मनुष्य पृथ्वी के साथ अपने सच्चे सम्बन्ध को प्राप्त करते हैं । जहाँ यह भाव नहीं है वहाँ जन और भूमि का सम्बन्ध अचेतन और जड़ बना रहता है । जिस समय भी जन का हृदय भूमि के साथ माता और पुत्र के सम्बन्ध को पहचानता है उसी क्षण आनन्द और श्रद्धा से भरा हुआ उसका प्रणाम-भाव मातृभूमि के लिए प्रकट होता है । यह प्रणाम-भाव ही भूमि और जन का दृढ़ बन्धन है । इसी दृढ़ भित्ति पर राष्ट्र का भवन तैयार किया जाता है । इसी दृढ़ चट्टान पर राष्ट्र का चिरजीवन आश्रित रहता है । इसी मर्यादा को मानकर राष्ट्र के प्रति मनुष्यों के कर्तव्य और अधिकारों का उदय हता है । जो जन पृथ्वी के साथ माता और पुत्र के सम्बन्ध को स्वीकार करता है, उसे ही पृथ्वी के वरदानों में भाग पाने का अधिकार है । माता के प्रति अनुराग और सेवा-भाव पुत्र का स्वाभाविक कर्तव्य है । वह एक निष्कारण धर्म है । स्वार्थ के लिए पुत्र का माता के प्रति प्रेम, पुत्र के अधःपतन को सूचित करता है । जो जन मातृभूमि के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहता है उसे अपने कर्तव्यों के प्रति पहले ध्यान देना चाहिए ।

माता अपने सभी पुत्रों को समान भाव से चाहती है, इसी प्रकार पृथ्वी पर बसने वाले जन बराबर हैं । उनमें ऊँच और नीच का भाव नहीं है । जो मातृभूमि के हृदय के साथ जुड़ा हुआ है, वह समान अधिकार का भागी है । पृथ्वी पर निवासी करने वाले जनों का विस्तार अनंत है – नगर और जनपद, पुर और गाँव, जंगल और पर्वत नाना प्रकार के जनों से भरे हुए हैं । ये जन अनेक प्रकार की भाषाएँ बोलने वाले और अनेक धर्मों के मानने वाले हैं, फिर भी वे मातृभूमि के पुत्र हैं और इस कारण उनका सौहार्द भाव अखंड है । सभ्यता और रहन-सहन की दृष्टि से जन एक दूसरे से आगे पीछे हो सकते हैं, किन्तु इस कारण से मातृभूमि के साथ उनका जो सम्बन्ध है, उसमें कोई भेद-भाव उत्पन्न नहीं हो सकता । पृथ्वी के विशाल प्रांगण में सब जातियों के लिए समान क्षेत्र है । इतिहास के अनेक उतार-चढ़ाव पार करने के बाद भी राष्ट्र निवासी जन नई उठती लहरों से आगे बढ़ने के लिये आज भी अजर-अमर हैं । जन का सततवाही जीवन, नदी के प्रवाह की तरह है जिसमें कर्म और श्रम के द्वारा उत्थान के अनेक घाटों का निर्माण करना होता है ।

राष्ट्र का तीसरा अंग जन की संस्कृति है । मनुष्यों ने युग-युगों में जिस सभ्यता का निर्माण किया है, वही उसके जीवन की श्वास-प्रश्वास है। बिना संस्कृति के जन की कल्पना बन्धमात्र है, संस्कृति ही जन का मस्तिष्क है । संस्कृति के विकास और अभ्युदय के द्वारा ही राष्ट्र की वृध्धि सम्भव है । राष्ट्र के समग्र रूप में भूमि और जन के साथ-साथ जन की संस्कृति का महत्त्वपूर्ण स्थान है । यदि भूमि और जन अपनी संस्कृति से विरहित कर दिए जाएँ तो राष्ट्र का लोप समझना चाहिए । जीवन के विटप का पुष्प संस्कृति है । भूमि पर बसने वाले जन से ज्ञान के क्षेत्र में जो सोचा है और कर्म के क्षेत्र में जो रचा है - दोनों के रूप में हमें राष्ट्रीय संस्कृति के दर्शन मिलते हैं ।

जंगल में जिस प्रकार अनेक लता, वृक्ष और वनस्पति अपने अदम्य भाव से उठते हुए पास्परिक सम्मिलन से अविरोधी स्थिति प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार राष्ट्रीय जन अपनी संस्कृतियों के द्वारा एक-दूसरे के साथ मिलकर राष्ट्र में रहते हैं। जिस प्रकार जलों के अनेक प्रवाह नदियों के रूप में मिलकर समुद्र में एकरूपता प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार राष्ट्रीय जीवन की अनेक विधियाँ राष्ट्रीय संस्कृति में समन्वय प्राप्त करती हैं । समन्वययुक्त जीवन ही राष्ट्र का सुखदायी रूप हैं ।

साहित्य, कला, नृत्य, गीत, आमोद-प्रमोद अनेक रूपों में राष्ट्रीय जन अपने अपने मानसिक भावों को प्रकट करते हैं । गाँवों और जंगलों में स्वच्छन्द जन्म लेने वाले लोकगीतों में तारों के नीचे विकसित लोककथाओं में संस्कृति का अमित भण्डार भरा हुआ है, जहाँ से आनन्द की भरपूर मात्रा प्राप्त हो सकती है । राष्ट्रीय संस्कृति के परिचय-काल में उन सबका स्वागत करने की आवश्यकता है ।

पूर्वजों ने चरित्र और धर्म, विज्ञान, साहित्य, कला और संस्कृति के क्षेत्र में जो कुछ भी पराक्रम किया है उस सारे विस्तार को हम गौरव के साथ धारण करते हैं और उसके तेज को अपने भावी जीवन में साक्षात् देखना चाहते हैं । जहाँ अतीत वर्तमान के लिए भाररूप नहीं है, जहाँ भूत वर्तमान का जकड़ रखना नहीं चाहता वरन् अपने वरदान से पुष्ट करके उसे आगे बढ़ाना चाहता है, उस राष्ट्र का हम स्वागत करते हैं ।

शब्दार्थ और टिप्पणी

भौतिक पंच महाभूत से संबंन्ध रखनेवाला, पार्थिव **निर्मूल** जड़ से उखड़ा हुआ, बिना जड़ या मूल का **आद्योपांत** शुरू से अंत तक **चीलवटों** किसी चीज़ को झपट कर ले लेना **विरहित** अलग **अभ्युदय** उन्नति, विकास, भाग्य खुलना **सौहार्द** सज्जनता, मित्रता, भाईचारा, सहृदय **सततवाही** निरन्तर, अविरत **कबन्ध** वह शरीर जिसका सिर नहीं हो, सिर रहित काया

●